Volume-8, No. 2 Aug.-2021, pp. Hin.27-32

भारतीय न्याय व्यवस्था एवं प्रशासनिक व्यवस्था के संबंधों का एक अवलोकन

डॉ. रवि कुमार पोसवाल, शोध छात्र
राजनीति विज्ञान विभाग,
चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय मेरठ उत्तर–प्रदेष भारत।

प्रस्तावना

प्रस्तावित शोध प्रबंध राजनीति विज्ञान विषय के राज्य और शासन की क्रियान्वित वैधानिक व न्याय पूर्ण गतिविधियों का सामाजिक समस्या एवं जनसामान्य के प्रति सामाजिक न्याय एवं कल्याणकारी लोकतांत्रिक सिद्धांत को क्रियान्वित एवं मूल्यांकित करता है। भारत में आधुनिक लोकतांत्रिक राजनीति एवं सामाजिक सुरक्षा के माध्यम से न्याय एवं प्रशासन की अवधारणा का अवतरण उपनिवेश साम्राज्य का आकार बढ़ा और उसके संसाधनों का नियंत्रण आवश्यक हो गया, जिसके फलस्वरूप उपनिवेशिक शासन को एक सुसंगठित प्रशासनिक ढाँचे की आवश्यकता पड़ी, क्योंकि भारत की खण्डित राजनीतिक सामाजिक रचना ब्रिटिश साम्राज्य के लिए संकट उत्पन्न कर रही थी। हालांकि आरंभ में, भारतीय राजनीतिक व सामाजिक परंपराओं का सम्मान किया गया और यूरोपीय राजनीतिक व सामाजिक मूल्यों को थोपने का कोई प्रयास नहीं किया गया। बदलते राजनीतिक व प्रशासनिक आयामों एवं विरोध में उत्पन्न खतरों के कारण यूरोपियन विचारधारा व कानून व्यवस्था का अवतरण हुआ। किन्तु उपनिवेशकाल द्वारा किये गये बदलावों से स्थानीय स्तर पर जल्द ही प्रासंगिकता खो गई, जिसके फलस्वरूप भारतीय उपमहाद्वीप सहित सम्पूर्ण एशिया में 18वीं शताब्दी का मध्यमकाल होना शुरू हुआ, अर्थात् ब्रिटिश की उपयोगितावादी एवं सांस्कृतिक विशिष्टता की अवधारणा धीरे–धीरे महत्त्वहीन होने लगी। सुधारवादी दृष्टिकोण से ही अंग्रेजों द्वारा संचालित एक सिविल सत्ता के अंतर्गत न्याय और एकरूपता के पश्चिमी मूल्यों को लागू किया गया था।

मुख्य शब्द– न्याय व्यवस्था, रेगुलेटिंग एक्ट, विधि आयोग, पुलिस प्रशासन

वर्तमान स्वरूप में राजनीति विज्ञान को राज्य और शासन की समस्या और समाज में वैधानिक शक्ति के औचित्यपूर्ण क्रियान्वयन के रूप में संदर्भित किया जाता है। भारतीय उपमहाद्वीप में राजनीतिक विचारधारा का उद्भव हड़प्पा सभ्यता के साथ हुआ, जिसे कौटिल्य ने वैधानिक व लिखित रूप में प्रस्तुत किया। वहीं पश्चिमी देशों की राजनीतिक विचारधारा का उद्भव यूनान के नगर राज्य की अवधारणा के आधार पर हुआ। हालांकि अनेकों अनेक ऐसे प्रमाण प्राचीन राज्य व्यवस्था में मौजूद हैं, जिसमें अंधविश्वास और अतार्किक कल्पनाओं के ऊपर अनेक अमानवीय कृत्यों को उद्घाटित किया गया है। किंतु समय–परिवर्तन के साथ मानव समुदाय में राजनीतिक व सामाजिक गतिविधि का व्यावहारिक स्वरूप सामने आया, जिसमें धर्म की संकल्पना को सत्य एवं मानव कल्याण के साथ जोड़कर मानवहित को सर्वोपरि प्रस्तुत किया और व्यावहारिक रूप में बदलते नियमों में सुधार कर स्वतंत्र न्यायपूर्ण एवं कल्याणकारी धर्मशास्त्र व राजनीतिक शास्त्र का निर्माण किया गया, जिसकी परिणाम प्रस्तुति 21वीं शताब्दी में भारत में क्रियान्वित संसदीय लोकतांत्रिक गणराज्य प्रणाली का मूल सामाजिक न्याय एवं लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को व्यावहारिक रूप से क्रियान्वित करना है। एशिया में चीन के प्रसिद्ध विचारक कन्फ्यूशियन और भारत के कौटिल्य ने राजनीतिक सिद्धांत की अपेक्षा शासन कला का व्यावहारिक रूप एवं मानवीय नैतिकता एवं कल्याण को अधिक वरीयता के साथ अपने राजनीतिक व प्रशासनिक ग्रंथों में विचारों में प्रस्तुत किया है। राजनीतिक विज्ञान की अवधारणा के अनुसार यूनानी राजनीतिक सभ्यता ने धर्मशास्त्र अंधविश्वास काल्पनिक कथाओं आदि से विचलित होते हुए शुद्ध और व्यवस्थित विज्ञान स्वरूप को व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत किया है, जिससे युक्ति संगत सामाजिक दृष्टिकोण प्रस्तुत हुआ।

न्याय व्यवस्था

भारत की न्याय प्रणाली विश्व की सबसे पुरानी न्यायिक प्रणालियों में से एक है, जो अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन के दौरान आधुनिक स्वरूप में

थी। देश में एकीकरण की संरचना में अनेक अदालतें मिलकर न्यायपालिका संगठन बनाती हैं। भारत की शीर्ष अदालत नई दिल्ली स्थित सर्वोच्च न्यायालय है और उसके तहत विभिन्न राज्यों के उच्च न्यायालय हैं। उच्च न्यायालयों के अन्तर्गत जिला अदालतें और उनकी अधीनस्थ अदालतें हैं, जिन्हें निचली अदालत कहा जाता है। इसके अलावा न्यायाधिकरण, फास्ट ट्रैक कोर्ट, लोक अदालतें आदि मिलकर न्यायपालिका की रचना करते हैं।

न्याय व्यवस्था की धारणा राजनीतिक व सामाजिक चिन्तन की दृष्टि से नवीन धारणा नहीं है, वस्तुतः यह मूल अवधारणा है जिसे स्थापित करने हेतु ही प्राचीन समय में राज्य की आवश्यकता अनुभव की गयी, जिससे वर्तमान राज्य अस्तित्व में है। प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने भी अपने विचारों में न्याय की धारणा को बहुत महत्व दिया है। उन्होनें उस समय से ही न्याय की उस कानूनी धारणा को अपना लिया था, जिसे पश्चिम के राजनीतिक चिन्तक आधुनिक युग में ही अपना सकें। मनु एवं कौटिल्य द्वारा वर्गीकृत विवादों की दो प्रस्तुति आज भी भारतीय न्याय व्यवस्था के क्षेत्र में प्रासंगिक हैं, जितनी प्राचीन समय में थी। जहां एक ओर दीवानी न्यायिक व्यवस्था का सम्बन्ध सम्पत्ति विवादों से है, वहीं फौजदारी न्याय व्यवस्था का सम्बन्ध अपराधिक विवादों से है।

न्याय व्यवस्था संवैधानिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में एक ऐसे समाज की संरचना करना चाहती है। जहां स्वतंत्रता और समानता के साथ–साथ सभी को न्याय की उपलब्धि हो सके। इसका उल्लेख संविधान की प्रस्तावना में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक न्याय के सूत्र, मूल अधिकारों के अनुच्छेदों तथा राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में समाहित है। सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय की मीमांसा के सन्दर्भ में भारतीय न्याय व्यवस्था की संरचना व कार्य क्षेत्र संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों के अन्तर्गत स्पष्ट उल्लिखित हैं। जहाँ अनुच्छेद 124 से 149 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय के गठन आदि का वर्णन है। वहीं अनुच्छेद 214 से 231 तक उच्च न्यायालय[1] का और अनुच्छेद 233 से 236 तक जनपदीय न्यायपालिका के गठन आदि का उल्लेख है।[2] संविधान के अनुच्छेद 124 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय में मुख्य न्यायधीश के अतिरिक्त अधिक से अधिक सात न्यायधीश हो सकते है। भारत का उच्चतम न्यायालय अन्तिम अपीलीय अधिकरण है। संविधान के अनुच्छेद 134 (1) के खण्ड (क) के विनिर्दिष्ट मामलों में, जहाँ मृत्यु दंड दिया गया हो, उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है।[3]

भारतीय समाज व संस्कृति का व्यवहारिक दृष्टिकोण न्याय संगत रहा है। संविधान की प्रस्तावना भारत को सम्प्रभुता सम्पन्न प्रजातान्त्रिक गणराज्य के रूप में परिभाषित करती है। इसमें केन्द्र और राज्यों में संसदीय स्वरूप वाली संघीय शासन प्रणाली, स्वतंत्र न्यापालिका, सुरक्षित मौलिक अधिकार और राज्य के नीति निर्देशक तत्व, जिन्हें यद्यपि लागू करने के लिए सरकारें कानून बाध्य नहीं है एवं राष्ट्र के प्रशासन के आधारभूत तत्वों में एक आवश्यक मानक है।

भारत में कानून का स्रोत संविधान एवं दण्ड संहिताएं है, जो इसके बदले में राज्य को विधिक मान्यता देता है। विवाद सम्बन्धी कानून और पारपंरिक कानून इसके विधानों के अनुकूल है। भारतीय संविधान की एक प्रमुख विशेषता यह है कि संघीय प्रणाली को अपनाने और केन्द्रीय अधिनियम के उनके सम्बन्धित क्षेत्र में मौजूद होते हुए भी इसने सामान्यतः संघीय और राज्य दोनो के कानूनों को परिवर्तित करने के लिए एकीकृत एकल न्यायालय की स्थापना की है। समस्त न्याय प्रणाली के शीर्ष पर भारत का उच्चतम न्यायालय विद्यमान हैं। इसके नीचे प्रत्येक राज्य में या राज्यों के समूह में उच्च न्यायालय है। उच्च न्यायालय के नीचे अधीनस्थ न्यायालय पदानुक्रम में है। स्थानीय स्तर पर दीवानी और फौजदारी प्रकरणों के निपटारे के लिए न्याय पचांयत, पचांयत अदालत, ग्राम कचहरी आदि नामों से कुछ राज्यों में पंचायती न्यायालय भी कार्य करते हैं।

अतः यूरोप के विधि के शासन एवं लोककल्याण की अवधारणा का बदलाव भारतीय उपमहाद्वीप के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक कार्य संस्तुति पर पड़ने लगा, जिसके फलस्वरूप भारत में 18वीं शताब्दी के मध्य में वैधानिक व संवैधानिक प्रशासनिक प्रावधानों का अवतरण हुआ, जिसका वैधानिक प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था और ब्रिटेन ही नहीं, दूसरे देशों पर भी पड़ा। ऐतिहासिक स्वरूप से प्लासी के युद्ध के बाद, भारतीय उपमहाद्वीप में 18वीं शताब्दी के मध्योत्तर में ईस्ट इंडिया कंपनी को राजस्व अधिकार मिलने पर बंगाल, बिहार और उड़ीसा की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार कम्पनी को मिला एवं मुगल प्रशासन और मुगल व्यवस्था यथास्थिति में बनी रही, परन्तु दोहरे प्रशासन (ब्रिटिश व मुगल) के व्यावहारिक निहितार्थ परिपक्व संविदा संहिता से थे, क्योंकि कुछ वर्षों तक अंग्रेज मुगलों की प्रभुसत्ता को स्वीकार करने का दिखावा करते हुए सुसंगठित तरीके से नवाब की सत्ता को कमजोर करते रहे। बंगाल प्रान्त में न्यायिक प्रशासन शुरूआत (1765–1772) में भारतीय अधिकारियों के पास रहा और दीवानी व फौजदारी न्याय दोनों में

मुगल व्यवस्था अपनाई जाती रही। किन्तु मुगल व्यवस्था में केंद्रीय संगठन एवं सुसंगठित ढंग नहीं रहा, क्योंकि मुगल व्यवस्था स्थानीय फौजदारों और उनके कार्यकारी विवेक पर निर्भर होती थी, जिसमें शरीयत (इस्लामी विधान) की वैधानिकता का उल्लेख किया जाता था एवं सामाजिक व राजनीतिक मामलों पर मुफ्तियों और काजियों की व्याख्या के अनुसार उसके व्यवहार में आलोचनात्मक अंतर दिखता था। अतः मुगल व्यवस्था की अतार्किक व अवैधानिक तथ्यों पर आधारित न्याय व्यवस्था पर 18वीं शताब्दी के अंत तक जमींदारों व मालगुजारों का प्रभाव था, जिसने अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश न्याय व्यवस्था एवं यूरोपीय विधि के शासन को लागू करने का निमंत्रण दिया।

न्याय व्यवस्था में बदलाव

दीवानी न्याय व्यवस्था में बदलाव 1773 और 1781 के बीच और भी परिवर्तन की शीतलता मालगुजारी प्रभाव के कारण और न्याय प्रशासन से कार्यपालिका को अलग करने के ही सिद्धांतों के प्रभाव के कारण आए। हेस्टिंग्ज और कलकत्ता उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश सर एलिजा इम्पे द्वारा तैयार योजनाओं के अनुसार जिला प्रशासन को न्यायिक कार्यो से मुक्त कर दिया गया। दीवानी न्याय के प्रभाव में जिला अदालतों के स्थान पर छः प्रांतीय अदालतें बनाई गई। बाद में इन्हें अठारह मुफस्सिल अदालतों में बदल दिया गया, इनको कंपनी के कमीशनयाफ्ता यूरोपीय अधिकारियों के अंतर्गत रखा गया, जिन्हें इस काम के लिए 'जज' का नाम दिया गया।

कानून बनाने की बुनियादी शुरूआत

1773 के रेगुलेटिंग एक्ट द्वारा गठित सर्वोच्च न्यायालय कुछ वर्षों तक अपीलीय अदालत का काम करता रहा, लेकिन कार्यक्षेत्र के निर्धारण पर प्रश्न चिन्ह से सर्वोच्च न्यायालय के साथ उसके विवाद के कारण उसका कार्यक्षेत्र सीमित रूप से कलकत्ता नगर एवं फोर्ट विलियम से सम्बन्धित फैक्टरियों के विषयों तक निश्चित कर दिया गया अर्थात् अपील की अदालत का कार्य करने के लिए सदर दीवानी अदालत का पुनर्गठन किया गया एवं 1780 में सर एलिजा ने स्वयं उसकी निगरानी सँभाल ली। यह बदलाव न्यायिक सुधारों में यूरोपिकरण का प्रमुख उदाहरण था। 1781 की संहिता डाका नीचे के स्तर तक की सभी दीवानी अदालतों के लिए विशिष्ट नियम–कानून बनाए और सभी न्यायिक आदेश उसके बाद लिखित रूप से दिए जाने लगे।

न्याय व्यवस्था में निश्चितता और एकरूपता लाने में बाधक सबसे बड़ी समस्या स्थानीय कानूनों की भिन्न–भिन्न और परस्पर विरोधी व्याख्याओं की थी, क्योंकि ब्राह्मण पंडित धर्मशास्त्र के विभिन्न संप्रदायों की अलग–अलग व्याख्याएँ करते थे और अलग–अलग समय में एक ही कानून से न्याय क्रियान्वित किया जाता था। इस अनिश्चिता को खत्म करने के लिए हेंस्टिंग ने 1775 में हिन्दू विधि संहिता व 1778 में मुस्लिम विधि संहिता तैयार की। कानूनों के उक्त मानकीकरण के साथ कानून की वकालत के लिए अनुभव की आवश्यकता पड़ती थी। वकालत विशेष प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्तियों अर्थात् वकीलो' द्वारा की जाती थी। इस तरह प्रभाव की दृष्टि से हेस्टिंग्ज–काल के सुधारों की प्रवृत्ति "न्यायिक सत्ता के केंद्रीकरण और प्रशासन की एक व्यवस्था बनाने की ओर" थी। 18वीं शताब्दी के अंतिम वर्षो में दीवानी न्याय के प्रशासन से मालगुजारी की वसूली को अलग करने का नियम अंततः लॉर्ड कॉर्नवॉलिस द्वारा गठित 1793 की संहिता में किया गया, जिसमें मालगुजारी के अधिकारियों और उनके कारिंदों द्वारा शासन व प्रशासन के दुरुपयोग से संपत्ति के अधिकारों की सुरक्षा का एक उपाय था।

लार्ड कॉर्नवॉलिस संहिता द्वारा नई व्यवस्था में जिला और शहर अदालतों से लेकर चार प्रांतीय अदालतों और अपील की सुनवाई के अधिकार वाली सदर दीवानी अदालत तक अदालतों के एक सोपान क्रम की व्यवस्था थी। सभी अदालतों के प्रमुख यूरोपीय जज होते थे, किन्तु 'देशी कमिश्नरों' की नियुक्ति का प्रावधान था।

न्यायिक व्यवस्था के विकास में 1806 तक रैयतवारी क्षेत्र में जहाँ कलेक्टर को बंदोबस्त अधिकारी का काम करना और मालगुजारी नियमित करना एवं बंगाल के जमींदारों जैसा कोई शक्तिशाली समूह नहीं था, जहां मालगुजारी की वसूली तथा मजिस्ट्रेटी और न्यायिक शक्तियों के पृथक्करण में गंभीर समस्याएँ प्रस्तुत हुई। जिसके परिणामस्वरूप टॉमस मुनरो के दृष्टिकोण पर कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने मद्रास के लिए 1814 में एक अलग व्यवस्था का प्रस्ताव रखा, जिसमें ग्राम पंचायत, जिला और शहरी अदालतों के स्तरों पर व्यवस्था के और अधिक स्थानीयकरण का तथा कलेक्टर के पद में मजिस्ट्रेट की शक्तियों की मालगुजारी की वसूली की और कुछ न्यायिक शक्तियों को केन्द्रित करने का प्रावधान था।

स्थानीयकरण (भारतीयकरण) के सवाल के अलावा कानूनों को संहिताबद्ध करने का भी सवाल था, जिससे पूरे ब्रिटिश भारत में न्याय प्रशासन और असैनिक (सिविल) सत्ता में एकरूपता आए। उक्त मामला गवर्नर–जनरल लॉर्ड बेंटिंक के काल तक और 1833 के चार्टर एक्ट गठन तक चर्चा में नहीं रहे। सर्वप्रथम भारतीयकरण कानून ने भारतीयों के लिए न्यायिक पद–सृजन और कानूनों को संहिताबद्ध

करने के लिए एक विधि आयोग के गठन का प्रावधान किया।

लॉर्ड मैकॉले की अध्यक्षता में गठित **विधि आयोग** ने भारत में लागू कानूनों को संहिताबद्ध करने का काम 1837 तक पूरा कर लिया, परन्तु राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक प्रभाव में हुये 1857 के विद्रोह के बाद ही उसे पूरी तरह लागू किया जा सका। 1859 में नागरिक कानून संहिता (कोड ऑफ सिविल प्रोसीजियर को 1860 में भारतीय दंड संहिता (इंडियन पीनल कोड) को और 1862 में आपराधिक संहिता (क्रिमिनल प्रोसीजियर कोड) को लागू किया गया।

कानून की समानता के विचार को भारतीय सिविल सेवकों पर अक्सर लागू नहीं किया जाता था। दीवानी न्याय की व्यवस्था में अगर समानता की दिशा में अधिक प्रगति हुई, तो भी फौजदारी अदालतों में शासकों के जातीय विशेषाधिकार विभिन्न रूपों में बने रहे। साथ ही कार्यकलाप के ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र थे, जैसे पुलिस और सेना जो 'कानून के शासन' की इस उपनिवेशी परिभाषा से अछूते रहे।

पुलिस प्रशासन

मानव समुदाय में शांति एवं सुरक्षा को सुनिश्चित करने एवं राजनीतिक व प्रशासनिक व्यवस्थाओं को सुव्यवस्थित ढंग से संचालित करने के लिए पुलिस विभाग एक अत्यंत आवश्यक विभाग है। पुलिस की अवधारणा भारतीय समाज में क्षत्रियता या रक्षक की अवधारणा से मिलती जुलती है, जो कि समाज का रक्षक एवं सुरक्षा का निर्धारक माना जाता था अर्थात् समाज अपराध व अमानवीय गतिविधि पर नियंत्रण रखने वाली। अतः आधुनिक विधि के शासन में पुलिस की भूमिका प्राचीन क्षत्रीय समाज/वर्ग से मिलती जुलती है। हालांकि भारत में आधुनिक पेशेवर सैनिक की अवधारणा मध्यकाल में सल्तनत काल में प्रारम्भ हुई, जिसमें अलाउद्दीन खिलजी द्वारा सुसंगठित ढंग से सैन्य सुरक्षा का निर्माण किया, किन्तु वर्तमान भारत में पुलिस की अवधारणा ब्रिटिश उपनिवेशकाल से आरम्भ हुई, जिसका प्राथमिक एवं सर्वोपरि उद्देश्य यूरोपीय प्रशासनिक व शासकीय व्यवस्था को संरक्षित करना था, जिसे आंशिक रूप से 18वीं शताब्दी के मध्य में सुसंगठित व वैधानिक विधि अनुरूप 19वीं शताब्दी में सुनिश्चित किया गया।

आरम्भ में ईस्ट इंडिया कंपनी पर 1765 से दीवानी कार्यभार शुरू हुआ। प्रारम्भ से मुगलों की पुलिस व्यवस्था फौजदारों के नियंत्रण थी, जो सरकारों (जनपदों) के अधिकारी होते थे, नगरों के अधिकारी कोतवाल होते थे, जबकि जमींदार गाँवों के चौकीदारों को तनख्वाह देते और उन पर नियंत्रण रखते थे। हालांकि मुर्शिदाबाद को मुख्यालय बनाकर एवं नायब नाजिम मुहम्मद रजा खाँ की देख–रेख में व्यवस्था कुछ वर्षों तक संचालित रही, किन्तु परम्परागत व्यवस्था अब सुनिश्चित ढंग से क्रियान्वित नहीं हो सकती थी, क्योंकि उपनिवेश शासन ने नवाबी व्यवस्था को अत्यंत कमजोर कर दिया।

भारत में लगातार आवृत्ति रूप में बढ़ रही प्राकृतिक आपदा के कारण भारतीय समाज में अपराध का ग्राफ बढ़ने लगा, जिसने लूटपाट को बढ़ावा दिया तथा संपत्ति विरोधी अपराधों की दर में चिंताजनक वृद्धि के साथ 'कानून और व्यवस्था' तेजी से खराब होने लगी। फलस्वरूप ब्रिटिश कंपनी के अधिकारियों को दूसरे विभागों की तरह पुलिस प्रशासन पर भी कम्पनी अधिकारियों की निगरानी आवश्यक लगती थी, क्योंकि हर अपराध ब्रिटिश सत्ता के लिए सीधे एक चुनौती होता था। तत्कालीन हालातों में फौजदारी व्यवस्था में आंशिक बदलाव कर ब्रिटिश मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति की गई। किन्तु जमींदारों ने व्यक्तिगत पुलिस के काम जारी रखे, जिन्हें मजिस्ट्रेटो के अधीन सुनिश्चित किया गया। वॉरेन हेस्टिंग्ज की असफल पुलिस विनियमों की चुनौतियों को नियंत्रित करते हुए लॉर्ड कॉर्नवॉलिस ने 1793 में जमींदारों को पुलिस के कामों से वंचित करने का प्रशासनिक निर्णय किया और जिसके स्थान पर उसने जिलों को थानों अर्थात् बीस से तीस वर्ग मील की इकाइयों में बाँटा, हर थाने को दरोगा नामक एक नए अधिकारी के अंतर्गत रखा और दरोगाओं की नियुक्ति एवं निगरानी का काम मजिस्ट्रेटों के हाथों में दिया अर्थात् कॉर्नवॉलिस ने पुलिस प्रशासन का विकेन्द्रीकरण कर दिया गया, जिसे स्थाई बंदोबस्त का नाम दिया गया।

प्रशासनिक संसाधन एवं गलत अवधारणात्मक परिणामों के लिए कॉर्नवॉलिस की व्यवस्था कुछ ही वर्षो में समाप्त कर दी गई। तहसीलदारों से पुलिस के काम 1807 में वापस लिए गए, 1812 में दरोगा व्यवस्था का औपचारिक उन्मूलन कर दिया गया और ग्रामीण पुलिस की निगरानी कलेक्टर को सौंप दी गई, जो अब एक ही साथ राजस्व पुलिस और मजिस्ट्रेट के कार्यो के लिए उत्तरदायी था अर्थात् भारत में पुलिस प्रशासन के स्तर पर बदलाव व संसोधनों का दौर शुरू हो गया। किन्तु शांति केन्द्रित व्यवस्था में कुछ और चुनौतियां प्रस्तुत हुई। राजस्व विभाग के निचले अधिकारी जिन पर अब मालगुजारी की वसूली की तथा ग्रामीण पुलिस की निगरानी की जिम्मेदारी भी थी। दमन और बल प्रयोग के नए साधन बन गए। उक्त स्पष्टीकरण 1854 में गठित मद्रास योजना आयोग ने अपनी रिपोर्ट में दिया था।

दूसरी और बंगाल में जहाँ स्थायी बंदोबस्त के कारण कलेक्ट्रेट कार्यालयों में अधीनस्थ कर्मचारियों का कोई

प्रतिष्ठान नहीं था। दरोगाओं को यथावत रखा गया और पुलिस के काम करने का अधिकार दे दिया गया, हालांकि 1817 के बाद उनको एक और भी अधिक नियंत्रण की व्यवस्था में लाया गया, जिस पर जिला मजिस्ट्रेटों की सक्रियता रहती थी। लेकिन ऐसे वेतन मुक्त सुधार संतोषजनक कम ही होते थे और उपनिवेशी राजसत्ता को स्पष्ट तौर पर एक ऐसी उपयुक्त पुलिस व्यवस्था की आवश्यकता थी, जो अपनी सत्ता क्रियान्वित कर सके, संपत्ति की सुरक्षा कर सके तथा पूरे साम्राज्य में 'कानून के शासन' की उपनिवेशी धारणा का क्रियान्वयन सुनिश्चित कर सके।

1843 में चार्ल्स नैपियर द्वारा सिंध प्रान्त की विजय प्राप्ति के बाद वहां रॉयल आयरिश कौंस्टबुलटी को लागू किया। सिंध में लागू किए गए इस मॉडल में पूरे क्षेत्र को एक ही इंस्पेक्टर जनरल की निगरानी में दे दिया गया, जबकि जिलों में अपने–अपने पुलिस अधीक्षक होते थे, जो इंस्पेक्टर जनरल तथा असैनिक (सिविल) सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाले जिला कलेक्टर दोनों के प्रति जवाबदेह होते थे।

भारतीय समुदाय के पुलिस वालों को सामान्य दर्जा एवं निम्न स्तरीय कार्य करने होते थे वहीं यूरोपीय समुदाय के नागरिक ब्रिटिश भारत में सदैव अधिकारी पद पर निश्चित रहते थे। सिंध का मॉडल जो किसी राजनीतिक आंदोलन से निबटने के लिए एकदम उपयुक्त था। बाद में पंजाब–विजय के बाद 1849 में लागू किया गया और फिर विभिन्न संशोधनों के साथ बंबई में 1853 में तथा मद्रास में 1859 में लागू किया गया। हालांकि, मद्रास की व्यवस्था में एक सैन्य पुलिस और एक शस्त्रहीन असैन्य बल का प्रावधान था और ये दोनों ही जिलों के कलेक्टर–मजिस्ट्रेट की असैन्य सत्ता के अधीन थे। मगर इस बीच 1857 के विद्रोह ने ब्रिटिश राज को हिलाकर रख दिया। जिसके फलस्वरूप 1860 में गठित पुलिस आयोग ने भारतीय साम्राज्य के लिए एक पुलिस प्रतिष्ठान का बुनियादी ढाँचा पेश किया और इसे 1861 के पुलिस एक्ट में मूर्त रूप दिया गया। जिसके उपरान्त केवल मामूली बदलाव के साथ वही ढाँचा ब्रिटिश राज की 20वीं शताब्दी में क्रियान्वित एवं एक अतिरिक्त नए संगठन में सैन्य पुलिस को समाप्त कर दिया गया और असैन्य पुलिस बल का गठन प्रांतों के आधार पर किया गया, जिसमें इंस्पेक्टर जनरल प्रांत को सरकार के प्रति जवाबदेह एवं उत्तरदायित्व दिया गया, जो कि जिला सुपरिंटेंडेंट कलेक्टर के सन्दर्भ में था अर्थात् पुलिस का पूरा संगठन असैन्य अधिकारियों के अंतर्गत कर दिया गया और इंस्पेक्टर जनरल का पद एक लंबे समय तक असैन्य अधिकारियों से क्रियान्वित किया जाता रहा एवं जिलों के सुपरिंटेंडेंट ग्रामीण पुलिस के अधिकारी बना दिये गये एवं दरोगा सब–इंस्पेक्टर बन गया और इस तरह ग्रामीण पुलिस को साम्राज्यिक ढाँचे में समन्वित करने की चुनौती से निजात मिली।

अतः पुलिस संगठन में कमान का एक सुस्पष्ट सोपानक्रम तैयार हुआ, किन्तु भारतवासियों को सुनियोजित तरीके से अलग रखा गया। 1902 के पुलिस आयोग ने पुलिस बल में अफसरों के पदों पर शिक्षित भारतवासियों की नियुक्ति का प्रावधान किया, लेकिन "पदक्रम में वे वहीं रोक दिए जाते थे, जहाँ से यूरोपीय अधिकारी का जीवनवृत्त आरंभ होता था।" निचले दर्जे के भारतीय अधिकारियों के प्रति अविश्वास से भरी और असैन्य अधिकारियों के नीचे काम कर रही भारतीय पुलिस व्यवस्था अपनी उपनिवेशी प्रकृति की मुखर साक्षी थी। डेविड आर्नल्ड के अनुसार यह परंपरागत अर्थ में एक पुलिस राज्य तो नहीं था, पर 1857 के विद्रोह और 1947 में सत्ता के हस्तांतरण के बीच एक "पुलिस राज" धीरे–धीरे सामने आता गया एवं उपनिवेशकाल की बढ़ती तानाशाही एवं पुलिसिया व्यवस्था के कारण बढ़ते विरोध के दमन के लिए पुलिस को पूरी शक्ति के साथ प्रयोग किया गया। जिसके फलस्वरूप पुलिस व्यवस्था एक तरह उपनिवेश शासन की सेना के रूप में क्रियान्वित हुई अर्थात् 20वीं शताब्दी में पुलिस सिविल सेवा भाव से निकलकर डिफेंस स्वरूप में प्रस्तुत हुई।

लोकतांत्रिक उदारीकरण से देश में सूचना क्रांति, संचार, परिवहन, चिकित्सा आदि क्षेत्रों में सुधार अवश्य हुआ है, किन्तु फिर भी जन सामान्य की समस्याओं में बढ़ोतरी हुई है। 21वीं शताब्दी में भारत में आम नागरिक की जान–माल–सम्मान, तीनों ही सुरक्षित नहीं हैं। ऊँचे लोकपदाधिकारियों को सरकार जनता के पैसे से सुरक्षा उपलब्ध करवा देती है और पूंजीपति लोग राजस्व के रूप में धन साख के रूप साख बनाये रखते है, या अपनी सम्पति, उद्योग, व्यापार की सुरक्षा के लिए पुलिस को हफ्ता या बंधी देते हैं। छोटे व्यावसायी संगठित रूप में अपने सदस्यों से उगाही करके सुरक्षा के लिए पुलिस को धन देते हैं और पुलिस का बाहुबलियों की तरह उपयोग करते हैं। व्यावसायियों को भ्रष्टाचार से वास्तव में कभी कोई आपत्ति नहीं होती, जैसा कि भ्रष्टाचार के एक मामले में सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधिपति के अनुसार, वे तो अपनी वस्तु या सेवा की लागत में इसे शामिल कर लेते हैं और इसे अंततः जनता ही वहन करती है।

निष्कर्ष

21वीं शताब्दी के भारतीय समाज में विधि के शासन के नाम पर दुनिया भर में सरकारें नागरिकों के लिये विधि का निर्माण करती है। विधि का उद्देश्य समाज के आचरण को नियमित करना है। अधिकार एवं दायित्वों के लिये स्पष्ट व्याख्या करना भी है, साथ ही समाज में हो रहे अनैतिक कार्य या लोकनीति के विरूद्ध होने वाले कार्यों को अपराध घोषित करके अपराधियों में भय पैदा करना भी अपराध विधि का उदेश्य है। भविष्य आधारित दृष्टिकोण था कि बेहतर कानूनों और प्रशासन के कारण वैयक्तिक पहल निरंकुशता, बुद्धिहीन, रीति–रिवाजों और परंपराओं से भारतीय समाज आधुनिकीकरण की ओर बढ़ेगा, इससे पूँजी और श्रम को मुक्त रूप में कार्य करने का पूरा–पूरा अवसर मिलेगा और व्यक्ति के अधिकारों और स्वामित्व को महत्त्व प्राप्त होगा। फलस्वरूप भारत में उपयोगितावादी 'कानून के शासन' का सैद्धांतिक समर्थन करते थे, जबकि सभी उपनिवेश क्षेत्रों में प्रशासन की एक समान व्यवस्था ब्रिटिश हितों से भी एकरूपता रखती थी। 1813 तक कंपनी अधिकतर भारतीय शासक व प्रशासक की भांति संचालित थी, सामाजिक व राजनीतिक परिवर्तन या हस्तक्षेप करने से बचती रही, इसके बावजूद कम्पनी खेती से अधिशेष की वसूली पर नजरें जमाए रहती थी। बदलते वैचारिक सामाजिक व राजनीतिक भाव के अंतर्गत यह स्थिति धीरे–धीरे बदलने लगी और ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति के कारण देशभर के बाजारों का एकीकरण और खेतिहर कच्चे मालों के स्रोत के रूप में कम्पनी का विकास आवश्यक हो गया।

सन्दर्भ

1. लक्ष्मीकान्त, एम0, भारत की राजव्यवस्था, टी0एम0एच0 प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं0 23.1
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ सं0 28.1
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ सं0 29.1
4. कश्यप, सुभाष, ''हमारा संविधान'' नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1996, पृष्ठ संख्या 198–211
5. ग्रोवर, बी0एल0, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास एक नवीन मूल्यांकन, एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0, नई दिल्ली, 1999, पृष्ठ संख्या– 63–65
6. चन्द्र, सतीश, ''मध्यकालीन भारत का इतिहासः सल्तनल से मुगलकाल तक– 1526–1761'', जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2011, पृष्ठ संख्या 64–70
7. गौतम पी0एल0, आधुनिक भारत (1737–1964 ई0), राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2002, पृष्ठ संख्या 310
8. चन्द्र, विपिन, ''आधुनिक भारत का इतिहास'', ओरियंट ब्लेकस्वान, 1/24, आशफ अली रोड, नई दिल्ली–110002, 2008, पृष्ठ संख्या 71–73
9. गौतम, पी0एल0, आधुनिक भारत (1737–1964 ई0), राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2002, पृष्ठ संख्या 314
10. पूर्वोक्त, पृष्ठ संख्या 316–317
11. चन्द्र, सतीश, ''मध्यकालीन भारत का इतिहासः सल्तनल से मुगलकाल तक– 1526–1761'', जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2011, पृष्ठ संख्या 101
12. ग्रोवर, बी0एल0, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास एक नवीन मूल्यांकन, एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0, नई दिल्ली, 1999, पृष्ठ संख्या–121
13. गौतम, पी0एल0, आधुनिक भारत (1737–1964 ई0), राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2002, पृष्ठ संख्या 313–314
14. चन्द्र, विपिन, आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वान, 1/24, आशफ अली रोड, नई दिल्ली–110002, 2013, पृष्ठ संख्या 149–172
15. जैन, पुखराज, राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2018, पृष्ठ संख्या 55–60